

स्त्री अस्मिता के तलाश की रचनात्मक अभिव्यक्ति : दिव्या

अरविन्द कुमार यादव

तदर्थ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

यह सही है कि उपन्यास 'दिव्या' ऐतिहासिक परिघटनाओं के आवरण में रचा गया है। उसके बावजूद यह अपने समय के सवालियों से तो टकराता ही है, हमारे वर्तमान के संघर्षों से भी पूरी तरह जुड़कर कुछ ऐसे सवाल छोड़ जाता है, जो हमें बेचैन कर जाते हैं। हमें आईना दिखाते हैं। जिसमें हम सभी का अपना चेहरा बदरंग दिखाई पड़ता है। कमोबेश यह दृश्य हमारे वर्तमान समाज का भी है।

यशपाल, सांस्कृत्यायन की तरह इतिहास के ज्ञात और स्थापित चरित नायकों को कथा का आधार नहीं बनाते। क्योंकि उनके बारे में लोगों की पूर्व-धारणाएँ बनी हुई रहती हैं। जिससे लेखक अपनी बात कहने के लिए पूर्ण स्वतंत्र नहीं रह पाता। उस स्थिति में अपनी सर्जनात्मक कल्पना के उपयोग द्वारा मनचाहा संसार नहीं रच सकता। क्योंकि उसे उन व्यक्तियों एवं प्रसंगों की पूर्व स्थापित पहचान के विरुद्ध जाने की छूट नहीं होती।

यही कारण है कि यशपाल ने उपन्यास की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि- "दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। मसलन इतिहास के आवरण में लिपटा हमारे ही समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है।" साथ ही उपन्यास के समर्पण की ये पंक्तियाँ- "तुमको- निरंतर पराभव और अभिशाप सहकर भी जिसका जीवन दीप स्नेह से प्रज्वलित है।" 'दिव्या' के बहाने यह सम्बोधन सम्पूर्ण नारी जाति के लिए है। जिसने समाज की सारी जटिलताओं, क्रूरताओं के बावजूद अनथक, अपराजेय संघर्ष कर अपने को जिंदा रखा बल्कि खुद के भीतर के प्रेम, स्नेह करुणा की भावना को कुण्ठित होने से भी बचाये रखा।

इस तरह 'दिव्या' के बहाने यशपाल भारतीय समाज में नारी के संघर्ष और उसकी अपराजेयता की कथा रचते हैं। जो ऐतिहासिक सत्य से कहीं ज्यादा हमारा सामाजिक सत्य है। यह सम्पूर्ण उपन्यास इसी बीज-भाव का विस्तार ही है।

यशपाल 'दिव्या' में भारतीय सामाजिक संस्था को उसकी सारी जटिलताओं और अंतर्विरोधों के साथ रखते हैं- दिव्या उसी सामाजिक संरचना का एक अंग है। नृत्य कला के प्रति उसका समर्पण, परिवार के प्रति उसका वत्सल समर्पण इससे मिलकर ही उसका सीमित संसार बनता था। फिर भी बिना किसी अपराध के जो कुछ भी जितना भी, दिव्या ने सहा-उसके लिए जिम्मेदार कौन है! इसके बावजूद जीवन को नए सिरे से गढ़ पाने में सफल होती है तो इसका श्रेय किसे जाता है? ये कुछ बुनियादी सवाल है। सामंती समाज में प्रेम अपराध है और

विवाह दो राजनैतिक घरानों का गठबंधन। विलास के अतिरेक वाले सामंती जीवन में प्रेम बगावत की तरह है। पृथुसेन और दिव्या के चरित्र में प्रेम की केन्द्रीय भूमिका रही है। 'दिव्या' का प्रेम व उसकी उपस्थिति उसे तेजस्वी तथा साहसी बनाता है- वही प्रेम का अभाव पृथुसेन को एक विलासी सामंत और बाद में नियतिवादी बौद्ध भिक्षु में बदल देता है।

इसके विपरीत दिव्या का प्रेम इस सामंती व्यवस्था के लिए एक गंभीर समस्या है। दिव्या की ओर से आई यह गंभीर चुनौती दो स्तरों पर है- पहला यह कि कुल परम्परा से ही विद्रोह है- जिसमें कन्या के विवाह की चिंता व चयन की जिम्मेदारी अभिभावकों की होती है। दूसरा यह कि पृथुसेन जैसे एक हीन कुल युवक को अपना प्रेम पात्र चुनकर वह समूचे अभिजात समाज को चुनौती देती है।

मथुरा में चक्रधर पुरोहित के परिवार में दासी का नारकीय जीवन बिताते हुए दिव्या को बौद्ध धर्म अधियारे में टिमटिमाते दीपक की तरह दिखाई दिया। लेकिन वहाँ पहुँचकर उसे पता चलता है कि पत्थरों का यह विशाल संचाराम बौद्ध विहार सदेवना के स्तर पर उन पत्थरों जैसा ही है जिससे वह बना है। सामाजिक समता और बराबरी की बात करने वाला संघ भी पुरुषवादी वर्चस्व से मुक्त नहीं है। स्त्री को संघ में प्रवेश या दीक्षा के लिए पुरुष की अनुमति अनिवार्य है। वह पुरुष उसका पिता, पति, पुत्र हो या दिव्या जैसी दासी के संदर्भ में उसका स्वामी। जिससे प्राण रक्षा के उद्देश्य से ही वह संघ की शरण में आई है। जबकि गौतम बुद्ध द्वारा वेश्या होने के कारण आम्रपाली को स्वतंत्र नारी माने जाने की व्यवस्था संघ के पास है जबकि दिव्या के पास ऐसा भी नहीं।

इस प्रकार संवेदनहीन धर्म संघ से टुकराई जाने के बाद दिव्या के पास आत्मघात के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं बचता। रत्नप्रभा के सेवकों द्वारा बचाई जाने की स्थिति में वह बार-बार वेश्या बनने की बात कहती है। क्योंकि उसे वहाँ स्वतंत्रता दिखाई देती है।

अहिंसा करुणा को अपना मूल आधार मानने वाला बौद्ध धर्म, अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करती स्त्री को आत्मघात के लिए प्रेरित करता है या वेश्या बनने के लिए मजबूर करता है। स्पष्ट है अपने बाहरी ढाँचे में क्रांतिकारी दिखने वाला बौद्ध संघ भी पुरुष वर्चस्व के कारण भीतर से उतना ही सामंती और पितृसत्तात्मक है। मतलब पुरुष की व्यवस्था में नारी कहाँ है?

तथागत (बुद्ध) के सेवक के रूप में पृथुसेन उसे स्वीकारने की बात करते हुए, त्याग, शांति और निर्वाण की बात करता है- निर्वाण को

जीवन का चरम सत्य व आनंद बताता है।

दिव्या उसे रोकते हुए अपना मूल प्रश्न दोहराती है- भन्ते! भिक्षु के धर्म में नारी का स्थान क्या है? पृथुसेन धर्म के मार्ग में नारी की स्थिति पर टिप्पणी करता है कि “भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है। क्यों कि भिक्षु का धर्म निर्वाण है जबकि नारी प्रवृत्ति का मार्ग है।” दिव्या उससे सवाल करती है- जो धर्म स्त्री के अस्तित्व से ही इन्कार करता है वह नारी के स्वत्व, उसके अस्तित्व व आत्मसम्मान की रक्षा कैसे कर सकता है? दिव्या का निर्णय और उसके सवाल जीवन संघर्षों से उपजे हैं- जहाँ जीवन से पलायन नहीं है।

वह कहती है- निवृत्ति और निर्वाण स्त्री की प्राकृतिक राह नहीं उसका मूल धर्म सृष्टि है जिसे निर्वाण बाधित करता है। जिस निर्वाण को तुम जीवन का शाश्वत सत्य कहते हो वह दरअसल जीवन से पलायन का मार्ग है।

इस तरह दिव्या अपने बहाने जैसे सम्पूर्ण नारी जाति की अस्मिता और उसके अस्तित्व का सवाल उठा रही होती है। इस क्षण वह अपने जीवन में आने वाले पुरुष को लेकर कहीं भी भावुक नहीं होती क्योंकि जीवन सिर्फ भावुकता से नहीं चिंतन तर्क और विचार से चलता है।

इस तरह नारी जाति के लिए एक नए मार्ग का संकेत करती है। जिसे उसने अपने संघर्ष, निर्णय और उत्कट जीजिविषा से बनाया है।

रत्नप्रभा के प्रासाद में दिव्या और मारिस का संवाद जिसमें मारिस कहता है कि जीवन के प्रवाह में एक अप्रिय अनुभव के कारण जीवन से विरक्त होकर जीवन की तृष्णा को तृप्त न करना केवल हठ है- क्यों कि निरंतर प्रयत्न ही जीवन का लक्षण है। जीवन के एक अंश का विफलता जीवन की विफलता नहीं है।

यह वस्तुतः जीवन की उसी निषेधवादी जीवन दृष्टि से मुक्ति का आह्वान है जिसका सहारा आर्य समाज से लेकर बौद्ध तक लेता रहा।

पृथुसेन, रूद्रधीर और ‘मारिश भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विविधरूप हैं।’ जिसमें कई परम्परावादी, तो कुछ सनातनी, तो कुछ प्रगतिशील भी हैं।

मारिश उसी प्रगतिशील चेतना का प्रतिनिधि है- जो दिव्या को फिर से जीवन में प्रवृत्ति का आह्वान करता है। उसके इस आह्वान में रूद्रधीर के राजप्रासाद के सुख साधन का आश्वासन भी नहीं है। और न ही पृथुसेन की तरह निर्वाण के चिरन्तन सुख का मिथ्या आश्वासन ही देता है। वह कहता है “वह संसार के धुलि-धुसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी की नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है, वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है और सन्तति की परम्परा रूप में मानव को अमरता दे सकता है।” दिव्या का स्वर आर्द हो गया उसने कहा “आश्रय दो आर्य।” प्रेमानुभूति के वर्जना वाली उस दौर में उस उत्कट प्रेमभाव को ही दिव्या के केन्द्र में रखकर यशपाल परम्परागत एवं जड़ भारतीय सामाजिक ढांचे का विरोध ही नहीं करते बल्कि स्त्रियों के पक्ष में लड़ी जाने वाली लड़ाई के एक अभियान को भी रचनात्मक रूप देने का साहस करते हैं।

संदर्भ

1. दिव्या - यशपाल, लोकभारती प्रकाशन-2012, इलाहाबाद
2. दिव्या का महत्व - मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद-2008